जैन संस्कृति की विशेषताएँ

(साध्वी मंजुश्रीजी एम.ए.)

मानव समाज में संस्कृति और सभ्यता ये दो शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं। प्राय: प्रत्येक पढ़ा लिखा व्यक्ति और प्रत्येक धनवान व्यक्ति अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानता है। आधुनिकीकरण के नाम पर पुरानी सही प्रथाओं को भी तिलांजलि देकर नए की अंधी होड़ में अपने को शामिल करते हुए व्यसन और फैशन का शिकार बनने में गर्व महसूस करता है। इसीलिए चिन्तक लोग हमेशा से इस प्रश्न पर विचार करते रहे हैं कि सभ्यता और संस्कृति किसे कहा जाए? दोनों में क्या अन्तर है?

डॉ. राजबली पाण्डेय ने उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि सभ्यता का अर्थ है Means of life तथा संस्कृत का अर्थ है Values of life अर्थात हमारे भौतिक जीवन का संबंध सभ्यता से है और हमारे आध्यात्मिक जीवन का संबंध संस्कृति से है। भौतिक जीवन जीने योग्य समाज मान्य समुन्नत साधन एवं बाह्य तौर तरीके 'सभ्यता' कहलाते हैं और आत्मिक सौन्दर्य के आधारभूत पारम्परिक जीवन-मूल्यों को 'संस्कृति' कहा जा सकता है।

आध्यात्मिक जीवन को संस्कारित करने में विचार और आचार का गहरा संबंध है। स्व-पर-हित साधन की भावना से जो विचार और तदनुरूप आचार की निष्पत्ति होती है, संस्कृति उसी का दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में, लोकमंगलकारी प्रयत्नों के मूल में निहित जीवन मूल्यों की समष्टि को 'संस्कृति' कहते हैं।

एक सभ्य कहलाने वाला डॉक्टर यदि अपनी पत्नी से नाखुश होकर उसे नींद की गोलियाँ खिलाकर सुला देता है, तो वह संस्कारवान नहीं कहला सकता। इसी प्रकार क्रोधावेश में यदि एक प्राध्यापक दूसरे प्राध्यापक की उंगलियाँ चबा डालता है, तो वह भी असभ्य और जंगलीपन का शिकार माना जाएगा। संस्कृति इस असभ्यता को दूर कर मानव मन को सबके हित की भावना से भर कर संस्कारवान बनाती है। अर्थात् मनुष्य के भीतर मनुष्यत्व का संचार करने का काम संस्कृति करती है। संस्कृति और सभ्यता ने मानव को संस्कारवान बनाने में अपना-अपना अमूल्य योगदान दिया है। इसीलिए मुनि विद्यानंदजी ने ठीक ही कहा है कि 'संस्कृति आत्मिक सौंदर्य की जननी है। इसी के अनुशासन में सुसंस्कार सम्पन्न मानवजाति का निर्माण होता है।'[१]

प्रो. इन्द्रचन्द्र शास्त्री का अभिमत है कि विचारों की बहती हुई धारा का नाम संस्कृति है।[२]

यहाँ हमारे अभिमत से विचारों की बहती हुई शुद्ध धारा को संस्कृति कहना चाहिए। विचार धारा यदि अशुद्ध हो गई तो वह समाज में संस्कृति के स्थान पर विकृति फैलाने वाली बन जाएगी।

साध्वी मंजुश्रीजी एम.ए.

आचार्य ह.प्र. द्विवेदी के इस कथन से कि 'संस्कृति उच्चतम चिन्तन का मूर्तरूप है।'[३] हमारे अभिमत की पुष्टि होती है।

दो मुख्य संस्कृतियाँ

भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही दो संस्कृतियों का प्राधान्य रहा है-[२] 'ब्रह्म' भाव का पोषण करनेवाली ब्राह्मण संस्कृति और सम, शम और श्रम का पोषण करने वाली श्रमण संस्कृति। दोनों ही अपनी-अपनी एक विशिष्ट पहचान के साथ चली आ रही संस्कृतियाँ हैं। इस लम्बी यात्रा में वे एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। उदाहरण के रूप में संन्यास तथा जन्मान्तर के भवचक्र से निवृत्ति ब्राह्मण संस्कृति के लिए जैन संस्कृति की देन है और जैन संस्कृति के लिए देवी-देवताओं की उपासना।

'संस्कृति' शब्द का व्युत्पत्यर्थ

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार 'संस्कृति' शब्द के तीन घटक हैं— सम् + स् + कृति + । सम् का अर्थ है — सम्यक्, स का अर्थ है— शोभादायक तथा कृति का अर्थ है— प्रयत्न, इच्छापूर्वक किया गया व्यापार। इस प्रकार संस्कृति का सम्पिण्डित रूप में शब्दार्थ हुआ शोभादायक विवेक सम्मत प्रयत्न।'[४]

प्राणिमात्र में अनादिकाल से कर्म की विभावजन्य स्थितियों के कारण विकृति आई हुई है। आत्मा अपनी प्रकृति (स्वभाव) को भूलकर विकृतिग्रस्त बनी हुई है। उसे पुन: प्रकृतिस्थ करने के लिए जिस विचार और आचार की जरूरत है, बस उसे ही 'संस्कृति' कहते हैं।

सभी प्राणियों में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो संस्कार-संपन्न बनने के लिये विशेष प्रयत्न कर सकता है। वह समाज बना कर रह सकता है, वह धर्म और दर्शन पर तात्विक चर्चाएँ कर सकता है, यहाँ तक कि वह अपने आत्मस्वरूप को संस्कारित कर परमात्मा भी बन सकता है। अत: आज संस्कृति के संबंध में जितनी भी चर्चा हुई है, वह सब मनुष्य संस्कृति से ही अधिकांशत: संबंधित है।

---

[१] श्रमण, अंक २, वर्ष १, सन १९४९ पृ. ७
[२] क. श्री. के. म. सु. अ. ग्रं. खंड ६ पृ. १४४
[३] क. श्री. के. म. सु. अभि. ग्रं. खंड ६, पृ. १४४
[४] क. श्री के म.सु. अभि. ग्रं. खंड ६-१४४

पांच तत्त्व का पुतला, माया मय जंजाल ।
जयन्तसेन अहं रखे, होवत नहीं निहाल ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति की परिभाषाएँ –

कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के मेल से बनी हुई संस्कृति है। वैदिक संस्कृति, श्रमण संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति आदि अनेक संस्कृतियाँ इस देश में फली-फूली हैं। इस देश की मिट्टी, तन्त्र-मंत्र की साधना, स्त्री और शूद्र का बहिष्कार, यज्ञोपवीत धारण आदि ब्राह्मण परंपरा की देन हैं।

जैन संस्कृति

श्रमण संस्कृति की एक विशिष्ट धारा जैन संस्कृति के नाम से भारतीय इतिहास में सुविश्रुत रही है। उसकी अपनी पहचान है जिनेश्वर वीतराग की उपासना और विचार एवं आचारगत कतिपय अनन्य साधारण विशेषताओं से वह मंडित है।

जैन संस्कृतिकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ—

(१) जैन संस्कृति गुणों की उपासक संस्कृति है, व्यक्ति की नहीं। इसी कारण इसका प्रमुख मंत्र 'नमस्कार मंत्र' अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के रूप में विश्व की सभी महान आत्माओं के प्रति श्रद्धा एवं प्रणति ज्ञापित कराने वाला मंत्र है।

(२) यह संस्कृति निवृत्तिप्रधान संस्कृति है। प्रवृत्ति प्रधान संस्कृति इच्छा के परिष्कार पर बल देती है, जबकि यह इच्छा मात्र के सर्वथा निरोध को ही मुक्ति का साधन मानती है। आत्मोपलब्धि और भवचक्र का उच्छेद इच्छा-निरोध से ही संभव है।

(३) विचार और आचार दोनों ही पक्षों में जैनसंस्कृति अहिंसात्मक है। अनेकान्त उसका विचार पक्ष है और अहिंसा उसका आचार पक्ष है। विचार गत अहिंसा का अर्थ है—कदाग्रह अथवा मिथ्याआग्रह (एकान्त पक्ष का आग्रह) का त्याग। मेरा ही अभिमत सत्य है, इसके बदले 'सत्य है सो मेरा है' का स्वीकार अनेकान्तवाद है। इस दृष्टि का अभिव्यक्ति पक्ष है—स्याद्वाद। इसी के आधार पर जैन संस्कृति अन्य सब दर्शनों का, संस्कृतियों का सम्मान करती है और समुद्र को भरनेवाली नदियों के समान उनको पूरक और उपकारक मानती है।

(४) आचार पक्ष की दृष्टि से अहिंसक वृत्तिवाले के लिए सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना स्वयंसिद्ध हो जाती है। यह साधना प्रवृत्ति निवृत्ति उभयरूपा है। जैसे हिंसा से निवृत्ति और दया, करुणा, अनुकंपा, परोपकार, प्रेम आदि में प्रवृत्ति से ही अहिंसाव्रत की साधना में समग्रता आती है। असत्य से निवृत्ति और हित-मित-मधुर सत्य-संभाषण में प्रवृत्ति से सत्य व्रत का समग्रत: पालन किया जा सकता है। इत्यादि।

(५) इन पांचों व्रतों की आराधना गृहस्थी और संयमी जीवन की दृष्टि से स्तर-भेद रखती है। गृहस्थ व्यक्ति इनका अंशत: पालन करता है, अत: उसके द्वारा पालित ये व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं। जबकि एक संयमी साधक इनका पूर्णत: पालन करता है, तब ये ही व्रत 'महाव्रत' संज्ञा से अभिहित किए जाते हैं।

(६) वैराग्य और त्याग प्रधान इस संस्कृति में गृही श्रावक और मुनि बनने के लिए जाति-पाँति, धनी-निर्धन आदि का कोई भी बन्धन स्वीकृत नहीं है। कोई भी गृहस्थ व्यक्ति श्रावक के १२ व्रतों को अंगीकार कर सकता है। अस्पृश्य समझी जानेवाली जातियों में उत्पन्न लोग श्रमण दीक्षा स्वीकार कर मैत्री, कारुण्य आदि का उपदेश देते हैं। सामान्य स्त्री-पुरुषों से लेकर विद्वत्ता, शूरवीरता और वैभव से सम्पन्न उच्चवर्णीय ब्राह्मण, सेनापति, धनकुबेर, श्रेष्ठी और राजा-महाराजा भी अविनश्वर सुख की प्राप्ति के लिए इस मार्ग का अवलम्बन लेते हैं।

इस प्रकार जगत के जीवों के प्रति वात्सल्यमयी असाम्प्रदायिक यह जैन संस्कृति भ. ऋषभ देव से लेकर आज तक मानव को असद्गुणों से निवृत्त करके सद्गुणों में प्रवृत्ति का संदेश देते हुए व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ लोकमंगल का विधान करती आयी है।

मधुकर - मौक्तिक

सम्यक्ज्ञान - सहित जो क्रिया होती है, वह रचनात्मक है। उस शुद्ध क्रिया से यदि हम तनिक भी दूर हुए तो असत्-क्रिया के चक्कर में पड़ जाएँगे, जो हमारा मानस विकृत कर डालेगी। इससे हमारे विचार, वाणी और व्यवहार सब दूषित, मलिन हो जाएँगे। ऐसा न हो, इसीलिए नवकार मंत्र आँखें खोल कर सावधान हो कर चलने का सन्देश देता है। हमारे जीवन-पथ में अनेक आँधियाँ और अनेक, तूफान हैं। परमेष्ठी भगवन्तों का आलम्बन ले कर ही उनका मुकाबला करते हुए हमें आगे बढ़ना है।

— जैनाचार्य श्रीमद् जयंतसेनसूरि 'मधुकर'

माया ममता ना तजे, रखता चित्त कषाय।
जयन्तसेन आतम वही, जन्म जन्म दुःख पाय॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org